आचारांग सूत्र में मूल्यात्मक चेतना

❖डॉ. कमलचन्द सोगाणी

आचारांगसूत्र में जीवन-विकास एवं साधना के सूत्र बिखरे पड़े हैं। इसमें पुनर्जन्म, आत्मा, अहिंसा, असंगता, अप्रमत्तता, संवेदनशीलता आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। दार्शनिक एवं भाषाविद् प्रोफेसर कमलचन्द जी सोगाणी ने अपने आलेख में आचारांग सूत्र में प्रतिपादित इन विभिन्न तत्त्वों को मूल्यात्मक चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है। सोगाणी जी के इस आलेख से आचारांग सूत्र के महत्त्व की प्रतीति सहज ही हो जाती है। इस आलेख में जो कोष्ठक में संख्या आई है वह उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित आचारांग चयनिका की सूत्र संख्या को इंगित करती है।—**सम्पादक**

आचारांग में मुख्य रूप से मूल्यात्मक चेतना की सबल अभिव्यक्ति हुई है। इसका प्रमुख उद्देश्य अहिंसात्मक समाज का निर्माण करने के लिये व्यक्ति को प्रेरित करना है, जिससे समाज में समता के आधार पर सुख, शान्ति और समृद्धि के बीज अंकुरित हो सकें। अज्ञान के कारण मनुष्य हिंसात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है।वह हिंसा के दूरगामी कुप्रभावों को, जो उसके और समाज के जीवन को विकृत करते हैं, नहीं देख पाता है। किसी भी कारण से की गई हिंसा आचारांग को मान्य नहीं है। हिंसा के साथ ताल-मेल आचारांग की दृष्टि में हेय है। वह व्यावहारिक जीवन की विवशता हो सकती है, पर वह उपादेय नहीं हो सकती। हिंसा का अर्थ केवल किसी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन हिंसा के अर्थ में ही सिमट जाता है। इसीलिये आचारांग में कहा है कि किसी भी प्राणी को मत मारो, उस पर शासन मत करो, उसको गुलाम मत बनाओ, उसको मत सताओ और उसे अशान्त मत करो। धर्म तो प्राणियों के प्रति समता भाव में ही होता है। मेरा विश्वास है कि हिंसा का इतना सूक्ष्म विवेचन विश्व-साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा। समता की भूमिका पर हिंसा-अहिंसा के इतने विश्लेषण एवं विवेचन के कारण ही आचारांग को विश्वसाहित्य में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। आचारांग की घोषणा है कि प्राणियों के विकास में अन्तर होने के कारण किसी भी प्रकार के प्राणी के अस्तित्व को नकारना अपने ही अस्तित्व को नकारना है। प्राणी विविध प्रकार के होते हैं : एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन सभी प्राणियों को जीवन प्रिय होता है, इन सभी के लिए दु:ख अप्रिय होता है। आचारांग ने हिंसा—अहिंसा का विवेचन प्राणियों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो मेरी दृष्टि में एक विलक्षण प्रतिपादन है। ऐसा लगता है कि आचारांग मनुष्यों की संवेदनशीलता को गहरी करना चाहता है, जिससे मनुष्य एक ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमें शोषण, अराजकता, नियमहीनता, अशान्ति और आपसी संबंधों में तनाव विद्यमान न रहे। मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने दु:खों को तो अनुभव कर ही लेता है, पर दूसरों के दु:खों के प्रति वह संवेदनशील प्राय: नहीं हो पाता है। यही हिंसा का मूल है। जब दूसरों के दु:ख हमें अपने जैसे लगने लगें, जब दूसरों की चीख हमें अपनी चीख के समान मालूम हो, तो ही अहिंसा का प्रारम्भ हो सकता है। मनुष्य को अपने सार्वकालिक सूक्ष्म अस्तित्व में सन्देह न रहे, इस बात को समझाने के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से ही ग्रंथ का आरम्भ किया गया है। अपने सूक्ष्म अस्तित्व में संदेह नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों को ही सन्देहात्मक बना देगा, जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की आधारशिला ही गड़बड़ा जायेगी। इसीलिये आचारांग ने सर्वप्रथम स्व-अस्तित्व एवं प्राणियों के अस्तित्व के साथ क्रियाओं एवं उनसे उत्पन्न प्रभावों में विश्वास उत्पन्न किया है। ये सभी व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को वास्तविकता प्रदान करते हैं और इनके आधार पर ही मूल्यों की चर्चा संभव बन पाती है।

आचारांग में ३२३ सूत्र हैं, जो नौ अध्ययनों (वर्तमान में ७वाँ अध्ययन अनुपलब्ध) में विभक्त हैं। इन विभिन्न अध्ययनों में जीवन विकास के सूत्र बिखरे पड़े हैं। यहां मानववाद पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरणाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व जीवन को दु:खी करने वाले कहे गए हैं। वस्तु त्याग के स्थान पर ममत्व त्याग को आचारांग में महत्त्व दिया गया है। वस्तु त्याग, ममत्व त्याग से प्रतिफलित होना चाहिये। आध्यात्मिक जागृति मूल्यवान् कही गई है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य मान–अपमान, लाभ–हानि आदि द्वन्द्वों की निरर्थकता को समझ सकता है। अहिंसा, सत्य और समता के ग्रहण को प्रमुख स्थान दिया गया है। बुद्धि और तर्क जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी, आध्यात्मिक अनुभव इनकी पकड़ से बाहर प्रतिपादित हैं। साधनामय मरण की प्रेरणा आचारांग के सूत्रों में व्याप्त है। आचारांग में भगवान महावीर की साधना का ओजस्वी वर्णन किसी भी साधक के लिए मार्गदर्शक हो सकता है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

मनुष्य समय–समय पर मनुष्यों को मरते हुए देखता है। कभी न कभी उसके मन में स्व अस्तित्व की निरन्तरता का प्रश्न उपस्थित हो ही जाता है। जीवन के गम्भीर क्षणों में यह प्रश्न उसके मानस–पटल पर गहराई से अंकित होता है। अत: स्व–अस्तित्व का प्रश्न मनुष्य का मूलभूत प्रश्न है। आचारांग ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न से चिन्तन प्रारम्भ किया है। आचारांग का यह विश्वास प्रतीत होता है कि इस प्रश्न के समाधान के पश्चात् ही मनुष्य स्थिर मन से अपने विकास की बातों की ओर ध्यान दे सकता है। यदि स्व अस्तित्व ही त्रिकालिक नहीं है तो मूल्यात्मक विकास का क्या प्रयोजन? स्व-अस्तित्व में आस्था उत्पन्न करने के लिए आचारांग पूर्वजन्म–पुनर्जन्म की चर्चा से शुरु होता है। आचारांग का कहना है कि यहां कुछ मनुष्यों में यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होश नहीं होता है कि वे अमुक दिशा से इस लोक में आए हैं(१)। वे यह भी नहीं जानते हैं कि वे आगामी जन्म में किस अवस्था को प्राप्त करेंगे (१)? यहां प्रश्न यह है कि क्या स्व–अस्तित्व की निरन्तरता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? कुछ लोग तो पूर्वजन्म में स्व-अस्तित्व का ज्ञान अपनी स्मृति के माध्यम से कर लेते हैं। कुछ दूसरे लोग अतीन्द्रिय ज्ञानियों के कथन से इसको जान पाते हैं तथा कुछ और लोग उन लोगों से जान लेते हैं जो अतीन्द्रिय ज्ञानियों के सम्पर्क में आए हैं (२) इस तरह से पूर्वजन्म में स्व-अस्तित्व का ज्ञान स्वयं के देखने से अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानियों के देखने से होता है। पूर्व जन्मों के ज्ञान से ही पुनर्जन्म के होने का विश्वास उत्पन्न हो सकता है। आचारांग ने पुनर्जन्म में विश्वास को पूर्वजन्म के ज्ञान पर आश्रित किया है। ऐसा लगता है कि महावीर युग में पूर्वजन्म को स्मृति में उतारने की क्रिया वर्तमान थी और यह आध्यात्मिक उत्थान के प्रति जागृति का सबल माध्यम था। जन्मों–जन्मों में स्व–अस्तित्व के होने में विश्वास करने वाला ही आचारांग की दृष्टि में आत्मा को मानने वाला होता है। जन्मों–जन्मों पर विश्वास से देशकाल में तथा पुद्गलात्मक लोक में विश्वास उत्पन्न होता है। इसी से मन, वचन, काय की क्रियाओं और उनसे उत्पन्न प्रभावों को स्वीकार किया जाता है। आचारांग का कहना है कि जो मनुष्य पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को समझ लेता है वह ही व्यक्ति आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा गया है (३)। इसी आधार पर समाज में नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों का भवन खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक उत्थान को वास्तविक बनाया जा सकता है।

क्रियाओं की विपरीतता

आचारांग इस बात पर खेद व्यक्त करता है कि मनुष्य के द्वारा मन, वचन, काया की क्रिया की सही दिशा समझी हुई नहीं है। इसीलिए उनसे उत्पन्न कुप्रभावों के कारण वह थका देने वाले एक जन्म से दूसरे जन्म में चलता जाता है और अनेक प्रकार की योनियों में सुखों–दुःखों का अनुभव करता रहता है(४)। मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजनों का विश्लेषण करते हुए आचारांग का कहना है कि मनुष्य के द्वारा मन, वचन, काया की क्रियाएँ जिन प्रयोजनों से की जाती हैं, वे हैं: १. वर्तमान जीवन की रक्षा के प्रयोजन से २. प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाने के प्रयोजन से, ३. भावी जन्म की उधेड़ बुन के कारण, वर्तमान में मरण भय के कारण तथा परम शान्ति प्राप्त करने तथा दुःखों को दूर करने के प्रयोजन से (५,६)। जिसने क्रियाओं के इतने शुरुआत जान लिए हैं उसने ही क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया है (७)। किन्तु दुःख की बात यह है कि मनुष्य इन विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए विभिन्न जीवों की हिंसा करता है,उनकी हिंसा करवाता है तथा उनकी हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है (८ से १५)। आचारांग का कहना है कि क्रियाओं की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरीतता जो हिंसा में प्रकट होती है मनुष्य के अहित के लिए होती है,वह उसके अध्यात्महीन बने रहने के कारण होती है (८ से १५) यह हिंसा कार्य निश्चित ही बन्धन में डालने वाला है, मूर्च्छा में पटकने वाला है और अमंगल में धकेलने वाला है (१६)। अत: क्रियाओं की विपरीतता का माप दण्ड है, हिंसा। जो क्रिया हिंसात्मक है वह विपरीत है। यहां हिंसा को व्यापक अर्थ में समझा जाना चाहिए। किसी प्राणी को मारना, उसको गुलाम बनाना, उस पर शासन करना आदि सभी क्रियाएँ हिंसात्मक हैं (७२)। जब मन, वचन, काया की क्रियाओं की विपरीतता समाप्त होती है, तब मनुष्य न तो विभिन्न जीवों की हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है(१७)। उसके जीवन में अहिंसा प्रकट हो जाती है अर्थात् न वह प्राणियों को मारता है, न उन पर शासन करता है, न उनको गुलाम बनाता है, न उनको सताता है और न ही उन्हें कभी किसी प्रकार से अशान्त करता है (७२)। अत: कहा जा सकता है कि यदि क्रियाओं की विपरीतता का मापदण्ड हिंसा है तो उनकी उचितता का मापदण्ड अहिंसा होगा। जिसने भी हिंसात्मक क्रियाओं को द्रष्टाभाव से जान लिया, उसके हिंसा समझ में आ जाती है और धीरे–धीरे वह उससे छूट जाती है(१७)।

क्रियाओं का प्रभाव

मन, वचन और काया की क्रियाओं की विपरीतता और उनकी उचितता का प्रभाव दूसरों पर पड़ता भी है और नहीं भी पड़ता है, किन्तु, अपने आप पर तो प्रभाव पड़ ही जाता है। वे क्रियाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। इसे ही कर्म-बन्धन कहते हैं। यह कर्म-बंधन ही व्यक्ति के सुखात्मक और दु:खात्मक जीवन का आधार होता है। इस विराट् विश्व में हिंसा व्यक्तित्व को विकृत कर देती है और अपने तथा दूसरों के दु:खात्मक जीवन का कारण बनती है और अहिंसा व्यक्तित्व को विकसित करती है और अपने तथा दूसरों के सुखात्मक जीवन का कारण बनती है। अहिंसा विराट् प्रकृति के विपरीत है। अत: वह हमारी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी होने से रोकती है और ऊर्जा को ध्वंस में लगा देती है, किन्तु अहिंसा विराट् प्रकृति के अनुकूल होने से हमारी ऊर्जा को रचना में लगा देती है। हिंसात्मक क्रियाएँ मनुष्य की चेतना को सिकोड़ देती हैं और उसको ह्रास की ओर ले जाती हैं, अहिंसात्मक क्रियाएँ मनुष्य की चेतना को विकास की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार इन क्रियाओं का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। अत: आचारांग ने कहा है कि जो मनुष्य कर्म.बन्धन और कर्म से छुटकारे के विषय में खोज करता है वह शुद्ध बुद्धि होता है।

मूर्च्छित मनुष्य की दशा

वास्तविक स्व–अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है। इसी विस्मरण के कारण मनुष्य व्यक्तिगत अवस्थाओं और सामाजिक परिस्थितियों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न सुख-दु:ख से एकीकरण करके सुखी-दु:खी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व—अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं होता है। वह अशांति से पीड़ित होता है, समता भाव से दरिद्र होता है, उसे अहिंसा पर आधारित मूल्यों का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (१८)। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय—विषयों में ही ठहरा रहता है (२२)। वह आसक्ति युक्त होता है और कुटिल आचरण में ही रत रहता है (२२)। वह हिंसा करता हुआ भी दूसरों को अहिंसा का उपदेश देता रहता है (२५)। इस तरह से वह अर्हत् (जीवन मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (२२,९६)। स्व—अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा में रहना है। इस जगत् में यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दु:ख देने वाली बन जाती है और दु:ख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित (आसक्ति युक्त) मनुष्य इस बात को देख नहीं पाता है (३९)। इसलिये वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता है, यही उसका अज्ञान है (४४)। विषयों में लोलुपता के कारण वह संसार में अपने लिए वैर की वृद्धि करता रहता है (४५) और बार—बार जन्म धारण करता रहता है (५३)। अत: कहा जा सकता है कि मूर्च्छित (अज्ञानी) मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सन्मार्ग को भूला हुआ होता है (५२)। जो मनुष्य मूर्च्छारूपी अंधकार में रहता है वह एक प्रकार से अंधा ही है। वह इच्छाओं में आसक्त बना रहता है और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह प्राणियों की हिंसा में संलग्न होता है (९८)। वह प्राणियों को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी हानि करने वाला तथा उनको हैरान करने वाला होता है (२९) इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरों को सताता है और उनको नुकसान पहुंचाता है (४३)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिंसा में संलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत होता है। आचारांग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (६९) वह सदैव मानसिक तनावों से भरा रहता है। चूंकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शांति (तनाव मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (६०) मूर्च्छित मनुष्य संसाररूपी प्रवाह में तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (३७) वह भोगों का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दु:खों के भंवर में ही फिरता रहता है (३८)। वह दिन-रात दु:खी होता हुआ जीता है। वह काल—अकाल में तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। वह केवल स्वार्थपूर्ण संबंध का अभिलाषी होता है। वह धन का लालची होता है तथा व्यवहार में ठगने वाला होता है। वह बिना विचार किए कार्यों को करने वाला होता है तथा विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए बार—बार शस्त्रों/हिंसा के प्रयोग को ही महत्त्व देता है(२६)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षा

यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिए सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन—वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिए बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यों के लिए यह जगत् इन्द्रिय तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है(७४), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील होते हैं कि यह जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे में उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिनके साथ वह रहता है, वे ही आत्मीय जन उसको बुरा भला कहने लगते हैं और वह भी उनको बुरा—भला कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था में वह मनोरंजन के लिए, क्रीड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (२७)। अतः आचारांग का शिक्षण है कि ये आत्मीय जन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (२७)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझकर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा संयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य जीवन के संयोग को देखकर आसक्ति रहित बनने का प्रयास करे (२८)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्यों! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अतः प्रमाद (आसक्ति) में मत फंसो(२८) और जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो तब तक ही स्व.अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास में लगो (३०)।

आचारांग सर्व अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मृत्यु के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (३६)। इसी बात को रखते हुए आचारांग फिर कहता है कि मनुष्य इस देह-संगम को देखे। यह देह—संगम छूटता अवश्य है। इसका तो स्वभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (८५)। आचारांग उनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी संग्रह में आसक्त होते हैं (७४)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना में लग जाते हैं।

धन-वैभव में मनुष्य सबसे अधिक आसक्त होता है। चूंकि जीवन की सभी आवश्यकताएँ इसी से पूरी होती हैं, इसलिए मनुष्य इसका संग्रह करने के लिए सभी प्रकार के उचित—अनुचित कर्म में संलग्न हो जाता है। आचारांग आसक्त मनुष्य का ध्यान धन-वैभव के नाश की ओर आकर्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए कहता है कि कभी चोर धन-वैभव का अपहरण कर लेते हैं, कभी राजा उसको छीन लेता है और कभी वह घर-दहन में जला दिया जाता है (३७)। धन-वैभव का नाश कुछ मनुष्यों को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उनको आत्म-जागृति की स्थिति में लाने के लिए समर्थ हो सकता है।

इस तरह से जब मूर्च्छित मनुष्य को संसार की निस्सारता का भान होने लगता है (६१), तो उसकी मूर्च्छा की सघनता धीरे–धीरे कम होती जाती है और वह अध्यात्म मार्ग की ओर चल पड़ता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि यदि अध्यात्म में प्रगति किया हुआ व्यक्ति मिल जाए, तो भी मूर्च्छित मनुष्य जागृत स्थिति में छलांग लगा सकता है (९३)। इस तरह से बुढ़ापा, मृत्यु, धन–वैभव का नाश, संसार की निस्सारता और जागृत मनुष्य के दर्शन– ये सभी मूर्च्छित मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उसमें स्व–अस्तित्व का बोध पैदा कर सकते हैं।

आन्तरिक रूपान्तरण और साधना के सूत्र

आत्म-जागृति अथवा स्व–अस्तित्व के बोध के पश्चात् आचारांग मनुष्य को चारित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को बतलाते हुए साधना के ऐसे सारभूत सूत्रों को बतलाता है जिससे उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त हो सके। कहा है कि हे मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है (६६), तू अपने मन को रोक कर जी (६१)। जो सुन्दर चित्तवाला है, वह व्याकुलता में नहीं फंसता है (६८)। तू मानसिक विषमता (राग–द्वेष) के साथ ही युद्ध कर, तेरे लिए बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने से क्या लाभ (९९)? बंध (अशांति) और मोक्ष (शांति) तेरे अपने मन में ही हैं (९७)। धर्म न गांव में होता है और न जंगल में, वह तो एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है (९६)। कहा गया है कि जो ममतावाली वस्तु-बुद्धि को छोड़ता है, वह ममतावाली वस्तु को छोड़ता है, जिसके लिए कोई ममतावाली वस्तु नहीं है, वह ही ऐसा ज्ञानी है, जिसके द्वारा अध्यात्म पथ जाना गया है (४६)।

आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को समझाने के बाद आचारांग ने हमें साधना की दिशाएँ बताई हैं। ये दिशाएँ ही साधना के सूत्र हैं। १. अज्ञानी मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क उसमें आशाओं और इच्छाओं को जन्म देता है। मनुष्यों से वह अपनी आशाओं की पूर्ति चाहने लगता है और वस्तुओं की प्राप्ति के द्वारा वह इच्छाओं की तृप्ति चाहता है। इस तरह से मनुष्य आशाओं और इच्छाओं का पिण्ड बना रहता है। ये ही उसके मानसिक तनाव, अशान्ति और दुःख के कारण होते हैं (३९)। इसलिए आचारांग का कथन है कि मनुष्य आशा और इच्छा को त्यागे (३९)। २. जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, वह बहिर्मुखी ही बना रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके कर्म-बंधन नहीं हटते हैं और उसके विभाव संयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(रागद्वेषात्मक भाव) नष्ट नहीं होते हैं (७८)। अत: इन्द्रिय विषय में अनासक्ति साधना के लिए आवश्यक है। यहीं से संयम की यात्रा प्रारम्भ होती है (५३) आचारांग का कथन है कि हे मनुष्य! तू अनासक्त हो जा और अपने को नियन्त्रित कर (७६)। जैसे अग्नि जीर्ण (सूखी) लकड़ियों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति राग-द्वेष को नष्ट कर देता है (७६)। ३. कषाएँ मनुष्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देती हैं। कषायों का राजा मोह है। जो एक मोह को नष्ट कर देता है, वह बहुत कषायों को नष्ट कर देता है (६९)। अहंकार मृदु सामाजिक संबंधों तथा आत्म-विकास का शत्रु है। कहा है कि उत्थान का अहंकार होने पर मनुष्य मूढ़ बन जाता है(९१)। जो क्रोध आदि कषायों को तथा अहंकार को नष्ट करके चलता है, वह संसार-प्रवाह को नष्ट कर देता है (६२-७०)। ४. मानव समाज में न कोई नीच है और न कोई उच्च है (३४)। सभी के साथ समतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। आचारांग के अनुसार समता में ही धर्म है (८८)। ५. इस जगत् में सब प्राणियों के लिए पीड़ा अशान्ति है, दु:ख युक्त है (२३)। सभी प्राणियों के लिए यहाँ सुख अनुकूल होते हैं, दु:ख प्रतिकूल होते हैं, वध अप्रिय होते हैं तथा जिन्दा रहने की अवस्थाएँ प्रिय होती हैं। सब प्राणियों के लिए जीवन प्रिय होता है (३६)। अत: आचारांग का कथन है कि कोई भी प्राणी मारा नहीं जाना चाहिए, गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिए, शासित नहीं किया जाना चाहिए, सताया नहीं जाना चाहिए और अशान्त नहीं किया जाना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है (७२) जो अहिंसा का पालन करता है, वह निर्भय हो जाता है (६९)। हिंसा तीव्र से तीव्र होती है, किन्तु अहिंसा सरल होती है (६९)। अत: हिंसा को मनुष्य त्यागे। प्राणियों में तात्त्विक समता स्थापित करते हुए आचारांग अहिंसा भावना को दृढ़ करने के लिये कहता है कि जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसको तू शासित किए जाने योग्य मानता है— वह तू ही है, जिसको तू सताए जाने योग्य मानता है— वह तू ही है, जिसको तू गुलाम बनाए जाने योग्य मानता है—वह तू ही है, जिसको तू अशान्त किए जाने योग्य मानता है— वह तू ही है (९४)। इसलिए ज्ञानी, जीवों के प्रति दया का उपदेश दे और दया पालन की प्रशंसा करे (१०१)। ६. आचारांग ने समता और अहिंसा की साधना के साथ सत्य की साधना को भी स्वीकार किया है। आचारांग का शिक्षण है कि हे मनुष्य! तू सत्य का निर्णय कर, सत्य में धारणा कर और सत्य की आज्ञा में उपस्थित रह (५९, ६८)। ७. संग्रह, समाज में आर्थिक विषमता पैदा करता है। अत: आचारांग का कथन है कि मनुष्य अपने को परिग्रह से दूर रखे (४२) बहुत भी प्राप्त करके वह उसमें आसक्तियुक्त न बने (४२)। ८. आचारांग में समतादर्शी (अर्हत्) की आज्ञा पालन को कर्त्तव्य कहा गया है (९९)। कहा है कि कुछ लोग समतादर्शी की अनाज्ञा में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए (९६) यहां यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञा पालन किए जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है?उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को महत्त्व दिया जाए। किन्तु, जहां बुद्धि की पहुंच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक के लिए आत्म विकास का माध्यम बन सकता है। संसार को जानने के लिए संशय अनिवार्य है (८३), पर समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य है (९२) इससे भी आगे चलें तो समाधि में पहुंचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा में चलना आवश्यक है। संशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा में चलने से ही समाधि– अवस्था तक पहुंचा जा सकता है। अतः आचारांग ने अर्हत् की आज्ञा पालन को कर्त्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। ९. मनुष्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, पर लोक असाधारण कार्यों की बड़ी मुश्किल से प्रशंसा करता है। उसकी पहुंच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यों का साधक व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है, अतः उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रशंसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यों को निश्चय ही छोड़ देगा। आचारांग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यों का साधक लोक के द्वारा प्रशंसित होने के लिए इच्छा ही न करे (७३)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मूल्यों की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिये प्रेरणा स्तम्भ होता है। आचारांग में ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जाग्रत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दों से इंगित किया गया है। १. द्रष्टा के लिए कोई उपदेश शेष नहीं है (३८)। उसका कोई नाम नहीं है (७१)। २. उसकी आंखें विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (४४)। ३. वह बंधन और मुक्ति के विकल्पों से परे होता है (५०) वह शुभ–अशुभ, आदि दोनों अन्तों से नहीं कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (५६, ६४) और उसका अनुभव किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है तथा न नष्ट किया जा सकता है (६४)। वह किसी भी विपरीत परिस्थिति में खिन्न नहीं होता है और वह किसी भी अनुकूल परिस्थिति में खुश नहीं होता है। वास्तव में वह तो समता भाव में स्थित रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है (४७) ४. वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है, अत: वह वीर हिंसा से संलग्न नहीं किया जाता है (४९)। वह सदैव ही आध्यात्मिकता में जागता है (५१)। ५. वह अनुपम प्रसन्नता में रहता है (४८)। ६. वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोक प्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है, (५५)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। वह मूल्यों से अलगाव को तथा पशु प्रवृत्तियों के प्रति लगाव को समाज के जीवन में सहन नहीं करता है (४७)। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जाग्रत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (५०) ७. वह इन्द्रियों के विषयों को द्रष्टाभाव से जाना हुआ होता है, इसलिए वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् कहा जा सकता है (५२)। ८. जो लोक में परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से जीने वाला होता है, वह तनाव से मुक्त, समतावान्, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय कार्यों के लिए उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक में गमन करता है (५८)। ९. उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने में सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय में कोई तर्क उपयोगी नहीं होता है, बुद्धि उसके विषय में कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (९७) आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता–द्रष्टा अवस्था होती है (९७)।

महावीर का साधनामय जीवन

आचारांग ने महावीर के साधनामय जीवन पर प्रकाश डाला है। यह जीवन किसी भी साधक के लिए प्रेरणास्रोत बन सकता है। महावीर सांसारिक परतन्त्रता को त्यागकर आत्मस्वातन्त्र्य के मार्ग पर चल पड़े (१०३) उनकी साधना में ध्यान प्रमुख था। वे तीन घंटे तक बिना पलक झपकाए आंखों को भींत पर लगाकर आन्तरिक रूप से ध्यान करते थे (१०४)। यदि महावीर गृहस्थों से युक्त स्थान में ठहरते थे तो भी वे उनसे मेलजोल न बढ़ाकर ध्यान में ही लीन रहते थे। बाधा उपस्थित होने पर वे वहां से चले जाते थे। वे ध्यान की तो कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे (१०५) महावीर अपने समय को कथा, नाच, गान में, लाठी युद्ध तथा मूठी युद्ध को देखने में नहीं बिताते थे (१०६)। काम कथा तथा कामातुर इशारों में वे हर्ष शोक रहित होते थे (१०७)। वे प्राणियों की हिंसा से बचकर विहार करते थे (१०८)। वे खाने-पीने की मात्रा को समझने वाले थे और रसों में कभी लालायित नहीं होते थे (१०९)। महावीर कभी शरीर को नहीं खुजलाते थे और आंखों में कुछ गिरने पर आंखों को पोंछते भी नहीं थे (११०)। वे कभी शून्य घरों में, कभी लुहार, कभी कुम्हार आदि के कर्म–स्थानों में, कभी बगीचे में, मसाण में और कभी पेड़ के नीचे ठहरते थे और संयम में सावधानी बरतते हुए वे ध्यान करते थे (११२,११३,११४)। महावीर सोने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द नहीं लेते थे। नींद आती तो अपने को खड़ा करके जगा लेते थे। वे थोड़ा सोते अवश्य थे, पर नींद की इच्छा रखकर नहीं (११५)। यदि रात में उनको नींद सताती, तो वे आवास से बाहर निकलकर इधर-उधर घूम कर फिर जागते हुए ध्यान में बैठ जाते थे (११६)।

महावीर ने लौकिक तथा अलौकिक कष्टों को समतापूर्वक सहन किया (११७,११८)। विभिन्न परिस्थितियों में हर्ष और शोक पर विजय प्राप्त करके वे समता युक्त बने रहे (११९)। लाढ देश के लोगों ने उनको बहुत हैरान किया। वहां कुछ लोग ऐसे थे जो महावीर के पीछे कुत्तों को छोड़ देते थे। कुछ लोग उन पर विभिन्न प्रकार से प्रहार करते थे (१२०,१२१,१२२)। किन्तु, जैसे कवच से ढका हुआ योद्धा संग्राम के मोर्चे पर रहता है, वैसे ही वे महावीर वहां दुर्व्यवहार को सहते हुए आत्म-नियन्त्रित रहे (१२३)।

दो मास से अधिक अथवा छः मास तक भी महावीर कुछ नहीं खाते—पीते थे। रात—दिन वे राग-द्वेष रहित रहे (१२४)। कभी वे दो दिन के उपवास के बाद में, कभी तीन दिन के उपवास के बाद में, कभी चार अथवा पांच दिन के उपवास के बाद में भोजन करते थे (१२५)। वे गृहस्थ के लिए बने हुए विशुद्ध आहार की ही भिक्षा ग्रहण करते थे और उसको वे समता युक्त बने रहकर उपयोग में लाते थे (१२७)।

महावीर कषाय रहित थे। वे शब्दों और रूपों में अनासक्त रहते थे। जब वे असर्वज्ञ थे, तब भी उन्होंने साहस के साथ संयम पालन करते हुए एक बार भी प्रमाद नहीं किया (१२८)। महावीर जीवन पर्यन्त समता युक्त रहे (१२९)।

आचारांग के उपर्युक्त विषय विवेचन से स्पष्ट है कि आचारांग में जीवन के मूल्यात्मक पक्ष की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है।

—एच 7, चितरंतन मार्ग, सी स्कीम, जयपुर(राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org